

परीषह एवं उपसर्गजय के संदर्भ में सल्लेखना व्रत

—डॉ. सोहनराज तातेड़

● परीषहजय एवं उपसर्गजय

जैन दर्शन भगवान महावीर का दर्शन है। जैन दर्शन के केन्द्र में आत्मा है। आत्मा से कर्मों को अलग कर वीतरागता की स्थिति प्राप्त करना साधना का मूल लक्ष्य है। आचार्य तुलसी ने मनोनुशासन में बतलाया—आत्मशुद्धि साधनम् धर्मः¹। आत्मशुद्धि के साधन को धर्म कहा गया है। आत्मशुद्धि की प्रथम मंजिल सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन के बाद सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् ज्ञान के बाद सम्यक् चरित्र का स्थान है। तीनों के समन्वय की उत्कृष्ट अवस्था वीतरागता की प्राप्ति है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया— सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः²। सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्ष का मार्ग है। आगमवाणी में कहा गया — चारितं खलु धम्मो³ — चारित्र ही धर्म है। चारित्र के द्वारा ही आत्मशुद्धि संभव है। चारित्र को पुष्ट करने में परीषहजय एवं उपसर्गजय सहयोगी बनते हैं। परीषहजय का अर्थ है —कष्टों को समभाव से सहन करना। “परिषह इति परीषह” जो सहा जाय वह परीषह है। परीषह को परिभाषित करते हुए आचार्य उमास्वाति ने लिखा है:—⁴ “मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः”। अर्थात् स्वीकृत मार्ग से च्युत होने तथा कर्मों की निर्जरा के लिए भूख, प्यास आदि जो दुःख, कष्ट या विघ्न सहन किए जायें उन्हें परीषह कहते हैं, और परीषहों को जीतना परीषहजय कहलाता है। परीषह के अर्थ में ही कहीं कहीं पर “उपसर्ग” शब्द भी व्यवहृत हुआ है। भगवान् महावीर की धर्म—प्ररूपणा के दो मुख्य अंग—अहिंसा और कष्ट सहिष्णुता। कष्ट सहने का अर्थ शरीर, इन्द्रिय और मन को पीड़ित करना नहीं, किन्तु अहिंसा आदि धर्मों की आराधना को सुस्थिर बनाए रखना है। आचार्य कुंदकुंद ने कहा है:— “सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे णिणस्सदि।

तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भवए।।

अर्थात् सुख से भावित ज्ञान दुःख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है, इसलिए योगी को यथाशक्ति अपने आपको दुःख से भावित करना चाहिए। साधना की सफलता के लिए अनुकूलता की शीतलता के साथ परीषह की प्रतिकूलता रूपी गर्मी की भी आवश्यकता है, परीषह साधक के लिए बाधक नहीं, साधक है। अतः परीषहों के उत्पन्न होने पर उसे समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। उपसर्गजय — नारकी, तिर्यच, मनुष्य, देव गति के जीवों द्वारा दिए जाने वाले कष्टों को उपसर्ग कहते हैं। इनको समभाव से सहन कर लेना उपसर्गजय कहलाता है। उपसर्ग अनेक प्रकार के हो सकते हैं। साधु के 22 परीषह बताए गये हैं। जिन पर वह विजय पाता है। उत्तराध्ययन⁵, समवायांग⁶ और तत्त्वार्थ सूत्र⁷ में 22 परीषहजय का वर्णन इस प्रकार है :—

1. क्षुधा — भोजन सम्बन्धी कष्ट को शांति से सहन करना।
2. पिपासा — पानी सम्बन्धी कष्ट को समभाव से सहन करना।
3. शीत — ठंडी हवा व हिम को शांति से सहन करना।
4. उष्ण — गर्मी के कष्ट को समभाव से सहन करना।
5. दंश-मशक — मच्छर, कीड़े, मकोड़े आदि के काटने से उत्पन्न कष्ट को सहना।
6. अचेल — वस्त्र रहित या अल्प वस्त्र सहित हो जाने पर किसी प्रकार की चिंता नहीं करना।
7. अरति — संयम के प्रति अधैर्य को सहन करना।

8. स्त्री – स्त्री को निहार कर काम-विह्वल न होना स्त्री-परीषहजय है।
9. चर्या – किसी गृहस्थ या घर आदि में आसक्ति न रखकर ग्रामानुग्राम विचरण करना।
10. निषद्या – जंगली जानवरों की आवाज सुनकर भयभीत न होना।
11. शय्या – सोते समय उंची-नीची, उबड़-खाबड़ शय्या को सहन करना।
12. आक्रोश – प्रतिकूल वचन व व्यवहार पर आक्रोश न आना।
13. वध – तीक्ष्ण शस्त्रों से वध होने पर वध करने वाले के प्रति राग-द्वेष न करना।
14. याचना – भिक्षा के समय दीनता न लाना।
15. अलाभ – अमिलक्षित वस्तु न मिलने पर सम रहना।
16. रोग – शरीर में रोग उत्पन्न होने पर समभाव रखना।
17. तृण स्पर्श – तृणों पर शयन करने पर होने वाले कष्ट को समभाव से सहन करना।
18. जल्ल – पसीना, कीचड़, धूलि आदि के शरीर पर इक्कटा हो जाने पर उसे दूर करने का प्रयास न करना।
19. सत्कार-पुरस्कार – प्रशंसा-निंदा की स्थिति में सम सहना।
20. ज्ञान – अज्ञान से उत्पन्न कष्ट को समभाव से सहन करना।
21. दर्शन – जिसकी श्रद्धा पूर्ण रूप से स्थिर रहती है वह दर्शन परीषह पर विजय पाता है।
22. प्रज्ञा – बुद्धि होने पर उसका मद न करना प्रज्ञा-परीषहजय है।

इनमें अपने आपको सम रखना परीषहजय कहलाता है। कष्टों को समभाव से सहन करने से हमारी प्रतिरोधात्मक शक्ति बढ़ती है। प्रतिरोधात्मक शक्ति कर्म शरीर को शनैः शनैः क्षीण करती है। परीषहजय में मन-वचन-काया योग स्थिर होते हैं। योगों की स्थिरता आत्मा से कर्मदल को अलग होने के लिए मजबूर करती है। जैसे जैसे समता आती है कर्मशरीर को पोषण बंद होता है तथा कर्म-पुद्गल आत्मा से विलग होते हैं। इसे निर्जरा कहा जाता है। उपसर्गजय से संयम सधता है। उपसर्गजय संयम की साधना है। संयम साधना है संवर उसकी निष्पत्ति है। परीषहजय तप का एक रूप है। तप साधना है निर्जरा उसकी निष्पत्ति है। भगवान महावीर ने संवर, निर्जरा को धर्म बताया है। संवर निर्जरा आत्मशुद्धि में सहायक है।

आचारांगनिर्युक्ति के अनुसार स्त्री परीषह और सत्कार परीषह ये शीत परीषह के अंतर्गत आते हैं और शेष बीस उष्ण परीषह में। परीषहजय, उपसर्गजय को साधक अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है तो वह निरंतर साधना से वीतरागता तक को प्राप्त कर सकता है। आत्मशुद्धि, भावशुद्धि पर निर्भर करती है। भावशुद्धि समभाव में रहने से होती है। परीषह एवं उपसर्गजय व्यक्ति को समभाव में ले जाते हैं। राग-द्वेष का न होना समभाव है। मोह से राग-द्वेष, राग-द्वेष से कर्म, कर्म से जन्म-मरण, जन्म-मरण से दुःख तथा दुःख से राग-द्वेष यह वर्तुल है जो हर संसारी आत्मा के साथ चलता रहता है। परीषहजय राग-द्वेष को क्षीण करते हैं। उपसर्गजय कर्मों को क्षीण करते हैं। परीषहजय समभाव प्राप्त करने का सर्वोत्तम माध्यम है। समभाव आत्म विजय का सर्वोत्तम माध्यम है।

● सल्लेखना व्रत

सल्लेखना में दो शब्दों का योग है— सत् + लेखना। सत् का अर्थ सम्यक् तथा लेखना का अर्थ – सार-संभाल करना है। इस संदर्भ में लेखना का अर्थ व्यक्ति के द्वारा अपने

जीवन में क्रिया कलाओं को त्यागते हुए शरीर को क्रमशः कृश करना है। अर्थात् साधु अथवा श्रावक आहार का क्रमशः त्याग करते हुए मरण को प्राप्त करता है, उसे सल्लेखना कहते हैं। जैन धर्म एवं दर्शन अपने वैशिष्ट्य को लिए हुए अनादिकाल से निरंतर गतिशील हैं। विभिन्न मान्यताओं एवं सिद्धान्तों को लिए हुए यह दर्शन जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त साधना के अनेक पृष्ठों को उद्धाटित करता है। जिसके मूल में समता, अभय, निर्ममत्व, अमूर्च्छा, अपरिग्रह आदि भावनाएँ विद्यमान रहती हैं। बाह्य जगत से निस्पृही होने के साथ साथ स्वयं के शरीर से भी जब मोह समाप्त हो जाता है, तब आहार आदि का त्याग कर अपने आपको कृश करते हुए समाप्त किए जाने की कला जैन परम्परा में मान्य है, जिसे सल्लेखना (सन्थारा) कहा जाता है। भारतीय परम्परा में इसे समाधि शब्द से जाना जाता है। जैन परम्परा में जहाँ जीने की कला सिखाई जाती है वहाँ मरने की कला भी सिखाई जाती है। मरने की कला सल्लेखना है। सल्लेखना एक विधि पूर्वक शरीर को बाह्य एवं अन्तःरूप में कृश करने की पद्धति विशेष है। इसे आत्महत्या की संज्ञा नहीं दी जा सकती। कष्टों से घबराकर आवेशवश अपने शरीर को समाप्त करना आत्महत्या है। सल्लेखना में आत्मशुद्धि का लक्ष्य है तथा उसमें आत्मा की साक्षी है। सल्लेखना एक विशुद्ध साध्य के प्रति अपने आपको समर्पित करने के भावों से ओतःप्रोत होती है। सल्लेखना में औदारिक शरीर के साथ साथ कषायों को (कर्म शरीर को) कृश किया जाता है। सल्लेखना में कषायों को क्षीण कर समभाव की स्थिति प्राप्त करने का लक्ष्य होता है। यह मृत्यु से पूर्व की तैयारी है। इसे इच्छा मृत्यु वरण की वैज्ञानिक पद्धति कहा जा सकता है। इसमें किसी प्रकार का दबाव व परवशता नहीं हैं। आत्महत्या में कष्ट व आवेश का दबाव होता है। आत्महत्या जीवन से उबकर अविवेकपूर्ण लिया गया निर्णय है। सल्लेखना अत्यन्त सोच समझकर प्रसन्नता से लिया गया निर्णय है। जब साधु या श्रावक अपने औदारिक शरीर की स्थिति को तोल लेता है कि, अब शरीर कारण विशेष से इतना कृश हो गया है कि इसका जिंदा रहना मुश्किल है। तब साधक अपने मनोबल से धीरे धीरे अनशन के माध्यम से इसको पोषण देना बिल्कुल बंद कर देता है। यही से सल्लेखना प्रारंभ होती है। सल्लेखना परीषहजय एवं उपसर्गजय का सर्वोत्तम उदाहरण है। सल्लेखना से होने वाले कष्टों में अपने आपको साधक सम बना देता है उस स्थिति में पूर्ण समभाव में रहता है। वह समभाव की स्थिति परीषहजय की स्थिति है। समभाव व परीषहजय एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। परीषहजय का दूसरा नाम समभाव है। इसी प्रकार सल्लेखना परीषहजय की पूरक है। परीषहजय व सल्लेखना भी एक सिक्के के दो पहलू हैं। परीषहजय व सल्लेखना दोनों समभाव को बढ़ाते हैं। सल्लेखना एक तप है। भले ही समाज स्तर पर इसे स्वीकार न करना या मान्यता न देना, ऐसी भावनाएँ काम कर रही हों, फिर भी परम्परा में इसे तपस्या/ साधना का प्रयोग कहा जाता है। इसे न तो प्रथा, न दिखावा अथवा न ही आत्महत्या की परिधि में लिया जा सकता है। क्योंकि इसका उद्देश्य मात्र अनासक्ति के क्षण में जीना है। शरीर के प्रति अनासक्ति हो समाधिपूर्वक तप करना, ऐसे में मृत्यु आ जाये तो समतापूर्वक उसे स्वीकार करना संथारा है। अन्त समय में साधक संस्तारक (संथारा) मात्र का आश्रय लेकर देह त्याग करता है, इसे ही सल्लेखना कहते हैं। सल्लेखना मरण पूर्व की जाने वाली अनासक्तिपूर्ण पद्धति का नाम है।

● मरण का स्वरूप

मरण के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने अपने अपने मत व्यक्त किए हैं, जिसका अर्थ 'मरण' या 'मृत्यु' ही किया है। अर्थात् मरण को समस्त शरीरधारी जीवों का स्वभाव(प्रकृति) माना है।^१ 'मरण' शब्द मृ धातु से बना है, जो भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाकर बनाया गया है।^१

जिसका अर्थ है— प्राणों का परित्याग¹⁰। मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम ये सभी एकार्थ वाचक है।¹¹ इसका दूसरा अर्थ एक प्रकार का विष भी किया गया है।¹² जैन दर्शन में मरण के सम्बन्ध में कहा गया है कि “प्रस्तुत आयु से भिन्न अन्य आयु का उदय आने पर पूर्व आयु का नाश होना मरण है।¹³ अनुभूयमान आयु नामक पुद्गल का आत्मा के साथ विनष्ट (वियोग—पृथक्त्व) होना मरण है।

धवला में आयुर्कर्म को मरण का कारण माना है।¹⁴ अपने प्राणों से प्राप्त हुए आयु का, इन्द्रियों का और मन वचन व काय इन तीनों बलों का कारण विशेष के मिलने पर नाश होना, मरण है।¹⁵ मरण के दो रूप हमें मिलते हैं— प्रथम लोक प्रसिद्ध मरण, जो सामान्य व्यवहार में देखा जाता है। तथा दूसरा प्रतिक्षण आयु का क्षीण होना भी मरण ही है। जिसे क्रमशः तद्भव मरण (लोक प्रसिद्ध मरण) एवं नित्य मरण (प्रतिक्षण आयु का क्षीण होना) कहते हैं।¹⁶ अतः आत्मा का शरीर से अलग हो जाना ही मरण है। जब आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे प्रयाय या शरीर को धारण करता है, तो जिस शरीर पर्याय को आत्मा छोड़ता है, वह मरण है। गीता¹⁷ में मरण का अर्थ अकीर्ति किया गया है। सज्जन (सदाचारी) की अकीर्ति ही उसका मरण है। जिसके यश गौरव सम्मान, प्रतिष्ठा आदि न रहे। वह मरण से अधिक होती है। आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया है कि “जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा द्वारा जो पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त करता रहता है।¹⁸ यहां पर जीवात्मा द्वारा जो पुराने शरीर को छोड़ने की बात कही गई है, वही मरण है। जैन दर्शन में सात प्रकार के भय¹⁹ का उल्लेख किया गया है, उनमें से एक मरण भय भी है। अतः यह शाश्वत सत्य है कि सभी जीव मरणधर्मा हैं।

● मरण के भेद प्रभेद

जैसा सल्लेखना का परीषहजय एवं उपसर्गजय के साथ गहरा सम्बन्ध है। ठीक उसी प्रकार सल्लेखना का मरण के साथ अन्तः सम्बन्ध है, क्योंकि सल्लेखना एक व्रत है, जिसकी साधक पद्धतिपूर्ण पालना करता है। भगवती आराधना में वर्णित परम्परा में मान्य 17 प्रकार²⁰ के मरणों में से पांच प्रकार²¹ के मरणों का उल्लेख यहां किया जा रहा है—

1. बाल—बाल मरण
2. बाल मरण
3. बाल—पंडित मरण
4. पंडित मरण
5. पण्डित—पण्डित मरण

1. बाल—बाल मरण

यह संसार समुद्र है जिसमें अनादि अनन्तकाल से जीव अज्ञान के वशीभूत चारो गतियों में भ्रमण करते रहते हैं। आत्मा की अवस्था का पहला सोपान मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। दर्शन मोहनीय कर्म संसार को विस्तार देने वाला कर्म है। जिसकी दृष्टि सम्यक् नहीं होती है वह मिथ्यादृष्टि जीव कहलाता है।²² आत्मास्थान के लिए सबसे पहले, दर्शन को सम्यक् करना होता है, अपनी दृष्टि को सम्यक् बनाना होता है। जिस जीव में मिथ्यात्व, अविरित, प्रमाद, कषाय व योग पांचों आश्रव मौजूद होते हैं वह पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में रहता है। ऐसा जीव जब मरता है तो उसे बाल—बाल मरण कहते हैं।²³ “जैसी दृष्टि—वैसी सृष्टि” सुन्दर सृष्टि बनाने के लिए दृष्टि (चिंतन, दिशा, सोच)

को सम्यक् बनाना होता है। जब दृष्टि अविधायक होती है तब भव भ्रमण की सीमा नहीं रहती है। ऐसा जीव पुनः पुनः बाल-बाल मरण को प्राप्त होता है। इसे अज्ञान-अज्ञान मरण भी कहा जाता है।

2. बाल मरण

जब सोच विधायक (Positive attitude) होती है तो आत्मशुद्धि प्रारंभ होने लगती है। यह आत्मविकास की पहली सीढ़ी है। इसे "अपूर्वकरण" कहते हैं। आत्मा को ऐसा चिंतामणि रत्न मिलता है जो पहले कभी नहीं मिला हो। वह चिंतामणि रत्न-सम्यक्दर्शन है। जिसने एक बार सम्यकत्व (सम्यक् दर्शन) को प्राप्त कर लिया, उसने अपने भवों की सीमा तय कर ली यानि वह मोक्ष का अधिकारी बन गया। कभी न कभी वह मोक्ष (निर्वाण) को जरूर प्राप्त करेगा। यह आत्मा का चौथा गुणस्थान "अविरत सम्यक्दृष्टि" कहलाता है। आत्मा का मिथ्यात्व समाप्त हो गया लेकिन अज्ञान (अविरति) बाकी है। चौथे गुणस्थान में अविरति, प्रमाद, कषाय योग चार आश्रव रहते हैं। इस गुणस्थान का जीव सम्यक्दर्शन को जानता है लेकिन संसार के भोगों के प्रति बहुत लालायित रहता है। इस स्थिति के जीव के मरण को बाल मरण कहते हैं।²⁴ बाल का अर्थ अज्ञान है। ऐसे प्राणी के मरण को अज्ञान मरण कहते हैं।

3. बाल-पण्डित मरण

ज्यों ज्यों व्यक्ति अनासक्ति, साधना की ओर अग्रसर होता है तब व्रतों को धारण करता है। व्रत साधना है जिसकी निष्पत्ति संवर है। यह जीव की क्रमिक उन्नति का पांचवा गुणस्थान है। इस गुणस्थान के प्राणी को श्रावक की संज्ञा दी जाती है। जिसे व्रताव्रती कहते हैं। इस गुणस्थान को "देशविरति सम्यक्दृष्टि गुणस्थान" कहते हैं। इस गुणस्थान में व्रत व अव्रत दोनों साथ होते हैं तभी व्रताव्रती कहा जाता है। इस गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव व अविरति की आंशिक विद्यमानता पाई जाती है। प्रमाद, कषाय व योग आश्रव विद्यमान होते हैं। ऐसा जीव जब मरण को प्राप्त होता है तो उसे बाल-पण्डित मरण कहते हैं,²⁵ यानि आंशिक अज्ञान की विद्यमानता। बाल व पण्डित दोनों की प्राप्ति के कारण इसमें आंशिक अज्ञान और स्थूल हिंसा आदि से विरति रूप चारित्र्य व दर्शन दोनों होते हैं। यह सल्लेखना पूर्ण मरण विरताविरत चारित्र्यधारी जीव के होता है।

4. पण्डित मरण

छठे व सातवें गुणस्थान में जिनका सल्लेखना पूर्वक मरण होता है उसे पण्डित मरण कहते हैं। पण्डित-पण्डित के प्रकर्ष रहित जिसका पाण्डित्य होता है, उसे पण्डित कहते हैं तथा उनका सल्लेखना पूर्ण मरण पण्डित-मरण है। यह मरण उन साधुओं को होता है जो अपने आचरण या चारित्र्य को शास्त्र-सम्मत या आप्तपुरुषों के कहे अनुसार बना पाते हैं। भगवती आराधना में कहा गया है कि पण्डित मरण के तीन प्रकार हैं:-²⁶

- i. प्रादोपगमन
- ii. भक्त प्रतिज्ञा
- iii. इंगिणी मरण

i. प्रादोपगमन

पाद और उपगमन अर्थात् पैरों से उपगमन पूर्वक होने वाले मरण को प्रादोपगमन मरण कहते हैं। अपने पैरों से चलकर अर्थात् संघ से निकलकर योग्य देश में आश्रय लेना प्रादोपगमन है। इसमें साधु न स्वयं अपनी सेवा करता है और न दूसरों से कराता है। जिसमें अस्थिमात्र शेष रहता

है, वह प्रादोपगमन करता है। प्राद का अर्थ सन्यास है। अतः सन्यासियों (साधुओं) के मरण का एक भेद इसे कहा गया है।

ii. भक्त प्रतिज्ञा

भक्त का अर्थ—जिसका सेवन किया जाए और पइण्णा का अर्थ है—त्याग। अर्थात् जिसमें भोजन का त्याग किया जाये, वह भक्त प्रतिज्ञा है। यह दो प्रकार से किया जाता है:—

- a) सविचार भक्त प्रतिज्ञा
- b) अविचार भक्त प्रतिज्ञा

यदि मरण सहसा उपस्थित हो तो अविचार भक्त प्रत्याख्यान किया जाता है। जब कि सविचार भक्त प्रत्याख्यान अर्हम, लिंग आदि चालीस पदों²⁷ द्वारा लिए जाने का विधान किया गया है।

iii. इंगिणी मरण

इंगिणी मरण का अर्थ है अपने अभिप्राय के अनुसार रह कर होने वाला मरण। इंगिणी शब्द का तात्पर्य इंगित अर्थात् संकेत से है। इंगिणी मरण का इच्छुक साधु संघ से निकलकर या अलग होकर गुफा में एकाकी आश्रय लेता है। इसमें वह अपनी सेवा स्वयं तो करता है, लेकिन दूसरे से नहीं कराता। इसका कोई सहयोगी साधु नहीं होता। स्वयं अपना संस्तारक बनाता है और स्वयं अपनी परिचर्या करता है।

5. पण्डित—पण्डित मरण

सम्यक्, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की उत्कृष्टतम स्थिति में जीव पण्डित—पण्डित मरण को प्राप्त होता है। गुणस्थान की अपेक्षा से जीव जब बारहवें गुणस्थान को स्पर्श कर लेता है तो वह वीतराग हो जाता है, उसके कषाय समाप्त हो जाते हैं। इस स्थिति में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषाय आश्रव पूर्ण रूप से क्षीण हो जाते हैं। तेरहवें गुणस्थान में मात्र योग आश्रव रहता है इस कारण वह सयोगी केवली कहलाता है तथा जब जीव आत्मशुद्धि की उत्कृष्टतम स्थिति चौदहवां गुणस्थान को प्राप्त करता है तो योग आश्रव भी समाप्त हो जाता है तथा जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। ऐसी शुद्ध आत्मा का मरण पण्डित—पण्डित मरण कहलाता है। आठवें गुणस्थान को प्राप्त करने पर अगर जीव क्षपक श्रेणी ले लेता है तो वह मोक्ष को प्राप्त होता है। और आठवें गुणस्थान में जीव उपशम श्रेणी ले लेता है तो इग्यारहवें गुणस्थान उपशांत मोह को प्राप्त कर नीचे गिर जाता है तथा पहले गुणस्थान मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तक भी गिर सकता है। पण्डित—पण्डित मरण सर्वोत्तम मरण है।²⁸

इस प्रकार परीषहजय, उपसर्गजय संयम साधना के मुख्य सूत्र है। इनसे समभाव फलित होता है। सल्लेखना व्रत संयम साधना का सहयोगी तत्व है। अतः परीषहजय एवं उपसर्गजय सल्लेखना व्रत की साधना के पूरक है। इनके पुष्ट होने पर सल्लेखना व्रत प्राणवान बनता है। वर्तमान युग घोर अज्ञान का युग है। मानव भौतिकता की चकाचौंध में लुप्त है। घोर अज्ञान के कारण अनैतिकता, अशांति, कुदाग्रह, आंतकवाद, संग्रहवृत्ति, असंवेदनशीलता अमानवीय गुणों का विस्तार हो रहा है। इस कारण प्रकृति (पर्यावरण) को दूषित किया जा रहा है तथा उसका अंधाधुंध दोहन हो रहा है। इसके बदले में प्रकृति हमें असाध्य बिमारियों, भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, पानी की कमी आदि दण्ड के रूप में प्रदान कर रही है। अगर हम वर्तमान युग में मानवीय एकता, सदाचार, भाईचारा, शांति, अनाग्रह, संवेदनशीलता, नैतिकता आदि मानवीय गुणों को बढ़ाना चाहें तो हमें परीषहजय, उपसर्गजय के सिद्धान्त को आत्मसात करना होगा। परीषहजय से इच्छा—परिमाण,

अनासक्ति, वैराग्य व मैत्री भावना की वृद्धि होती है। परीषहजय मानव कल्याण का अमोधमंत्र है। परीषहजय, उपसर्गजय के निरंतर अभ्यास से जीवन की अंतिम सर्वोत्तम अवस्था सल्लेखना को प्राप्त किया जा सकता है।

सलाहकार,
जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय
लाडनू (राज.)

संदर्भ सूची:-

1. जैन सिद्धांत दीपिका – आचार्य श्री तुलसी, 7/23 पृ. सं. 52
2. तत्वार्थ सूत्र – 9/23
3. आगम वाणी- भगवान महावीर
4. तत्वार्थ सूत्र – 9/8
5. उत्तराध्ययन – 30/27
6. समवायोग- समवाय 22
7. तत्वार्थसूत्र – 9/10-12
8. मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम-रघुवंश(कालिदास), 8/87
9. आप्टे-संस्कृत हिन्दी कोश (मृ + भावे ल्युट्) पृ. 777
10. भगवती आराधना(विजयोदया टीका) पृ. 49, गाथा 25 की टीका, प्रकाशक-जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर
11. वही पृ.49
12. आप्टे-संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 777
13. अण्णाउगोदये वा मरदि य पुब्बाउणासे का” भगवती आराधना(विजयोदय टीका) पृ.50
14. आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात् – धवला
15. स्वपरिणामोपातस्यायुष इन्द्रियाणां बालानां च कारणवशात्संक्षयो मरणम् सर्वार्थ सिद्धि, पृ. 280
16. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (भाग 3) पृ. 278
17. संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।। भगवद्गीता, 2/34
18. वही, 2/22
19. दूहयरलोपतां अगुत्तिमरणं च वेयणाकस्सि भया। मूलाचार, 53
20. भगवती आराधना की टीका मे वर्णित 17 मरण
21. पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालंपंडिदं चैव। बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ।।2।। भग. आरा.
22. मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालीम्म च ।।29।। भग. आरा.
23. सुत्तोदो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सदहदि। सो चैव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदि ।।32।। भग. आरा.
24. अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि।।29।। भग. आरा.
25. भगवती आराधना गाथा 27 (विरदाविरदा जीवा मरन्ति तदियेण मरणेण)
26. पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चैव। तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस ।।28।। भग. आरा.
27. भगवती आराधना गाथा 66-69
28. पण्डिदपण्डितमरणे खीणकसायो मरन्ति केवल्लिणो ।।27।। भग. आरा.